

# आचार्य हरिभद्रसूरि का गृहस्थाचार

□ डॉ. पुष्पलता जैन

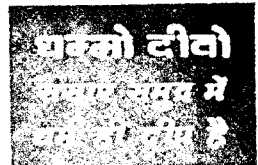
हरिभद्रसूरि जन्मतः ब्राह्मण पर कर्मतः एक सही श्रमण थे। हस्तिषटना ने उन्हें एक कर्मठ जैन, बहुश्रुत आचार्य बना दिया। उनका बहुश्रुत व्यक्तित्व वैदिक, बौद्ध और जैन परम्परा के गहन अध्ययन से ओतप्रोत था। उनके समूचे साहित्य में सभी भारतीय चिंतन-परम्पराओं के पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं। इतना ही नहीं बल्कि उनकी समीक्षा से उनकी तार्किक शक्ति का भी पता चलता है।

हरिभद्रसूरि का समय भले ही विवादग्रस्त माना जाए पर उन्हें हम आठवीं-नववीं शताब्दी का विद्वान् तो मान ही सकते हैं। हम यह जानते हैं कि यह समय बौद्ध युग का उतार-काल था। जैन मनीषियों का गंभीर पांडित्य हास की ओर जाने लगा था। चारित्र्य की भी यही स्थिति थी। जैन आचार और समाजव्यवस्था पर वैदिक आचार और समाज-व्यवस्था हावी होने लगी थी और अधिकांश वैदिक क्रियाओं का जैनीकरण किया जाने लगा था। जैनाचार्यों ने ऐसी स्थिति से समाज को किंवा धार्मिक आचार को बचाने का प्रयत्न अवश्य किया पर तात्कालीन राजनीतिक परिस्थितिवश वे ऐसा नहीं कर सके। फलतः जैनाचार्यों को वैदिक आचार संहिता की ओर मुड़ना पड़ा। यह एक अच्छी बात रही कि इस मोड़ में उन्होंने जैनाचार के मूलरूप को कभी नहीं छोड़ा। यह तथ्य हरिभद्र सूरि के ग्रन्थों से भी उद्घाटित होता है।

आचार्य हरिभद्रसूरि की ग्रन्थ-सम्पदा इतनी समृद्ध है कि एक तो वे सारे के सारे उपलब्ध नहीं हो पाते और यदि उपलब्ध हो भी जाएँ तो एक लेख में उनका समूचा उपयोग किया जाना संभव नहीं होगा। श्रावकाचार से सम्बद्ध उनकी कृतियों में विशेष उल्लेखनीय हैं—पंचसूत्रक (टीका), पंचनिपंठी (?), पंचवत्युग, सावयधम्मविहि पकरण (?) पंचासग, धर्मस्तरं, सावयधम्मतंत, धर्मबिन्दु और ललितविस्तर। इनमें से मेरे सामने अंतिम दो ही ग्रंथ हैं इसलिए प्रस्तुत निबंध इन दोनों ही के आधार पर लिखा गया है।

श्रावकाचार अनगारचार के लिए एक आधारशिला होती है। अनगार के व्रत-तप आदि आचार की प्रक्रिया गृहस्थावस्था में ही प्रारंभ हो जाती है, अतः इस अवस्था का उत्तरदायित्व श्रावकाचार के प्रति विशेष बढ़ जाता है।

श्रावक के लिए गृहस्थ, उपासक और अणुव्रती इन तीन शब्दों का प्रयोग अधिक होता है। ये सभी शब्द श्रावक की सीमा को इंगित करते हैं। आचार्य उमास्वाति ने श्रावक उसे माना है जो सम्यग्-दृष्टि साधुओं के पास उत्कृष्ट समाचारी श्रवण करता है, वह श्रावक है। हरिभद्रसूरि ने श्रावक की अपेक्षा गृहस्थ शब्द का उपयोग अधिक अनुकूल माना और उसे ही सामान्य और विशेष भागों में विभाजित किया।



धर्मबिन्दु के आरम्भ में ही श्रावक धर्म को उपर्युक्त रूप में विभाजित कर सामान्य धर्म निर्देश इस प्रकार किया है—

(१) कुल-परम्परानुसार अनिष्ट आचरणपूर्वक न्यायानुसार द्रव्यार्जन करना। आचार्य ने इस बिन्दु पर सर्वाधिक बल दिया है। यह तथ्य है कि समृद्धि होने पर दो प्रकार की शंकाएँ जन्म लेती हैं। एक तो भोक्ता पर संदेह प्रकट होता है और दूसरा भोग्य पर। इन दोनों शंकाओं और संदेहों से बचने के लिए न्यायोपार्जन सर्वाधिक उपयुक्त साधन है। जैसे मेंढक कुए की ओर और पक्षी सरोवर की ओर स्वतः अभिमुख होते हैं वैसे ही शुभकर्म और न्यायोपार्जन करने वालों की ओर लक्ष्मी पराधीन की तरह दौड़ पड़ती है। यह प्रवृत्ति इहलोक और परलोक के लिए सुखदायी होती है। अन्यायपूर्वक सम्पत्ति का अर्जन एकांततः सुखदायी नहीं होता।

हरिभद्रसूरि के उत्तरवर्ती लगभग सभी श्रावकाचार्यों में न्यायमार्गीय वृत्ति पर अधिक बल दिया गया है। जिनेश्वर सूरि का षट्स्थान प्रकरण तथा रतनशेखर सूरि की श्राद्धविधि का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। दिगम्बर परम्परा के आचार्यों ने भी इसे श्रावक का प्रथम कर्त्तव्य माना है। पं० आशाधर ने श्रावक धर्म के योग्य पात्रों की गुरु शृंखला में न्यायोपार्जन को सर्वप्रथम स्थान दिया है। ऐसा लगता है कि हरिभद्रसूरि कालीन जैन-समाज अन्यायपूर्वक द्रव्यार्जन करने लगा होगा। यही कारण है कि आचार्यों को श्रावक के गुणों और व्रतों में न्यायोपार्जन वृत्ति को समाविष्ट कर बार-बार उसे स्मरण करना पड़ा।

(२) आचार्य ने सामान्य धर्म की श्रेणि में दूसरा क्रम समान कुल, शील वाले भिन्न गोत्री के साथ विवाह को दिया है। उनकी दृष्टि में इससे पारस्परिक प्रीति और स्नेह बना रहता है, छोटे-बड़े का भाव नहीं आ पाता और आचार व्यवस्था में भी कोई बाधा नहीं होती। इस संबंध में टीकाकार ने कन्या की आयु १२ वर्ष और पुत्र की सोलह वर्ष विवाह के योग्य मानी है जिसे आज स्वीकार नहीं किया जा सकता। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उन्होंने स्त्री को गृहकार्य तक ही सीमित रखने की वकालत की है।

(३) गृहस्थ का तृतीय धर्म है सदाचारियों की प्रशंसा करना। योगबिन्दु में आचार्य ने लोकापवाद से भय, दीन जनों का उद्धार, कृतज्ञता, साधुजनों की प्रशंसा, विनम्रता, अपव्यय से दूर रहना, अप्रमादित आदि गुणों को सदाचार के अन्तर्गत माना है।

(४) इसके बाद कुछ और भी धर्मों का परिपालन एक सामान्य गृहस्थ के लिए आवश्यक बताया है—(१) इन्द्रिय-संयमन, (२) उपद्रवग्रस्त स्थान का त्याग, (३) योग्य व्यक्ति का आश्रय, (४) सत्संगति, (५) योग्य निवासस्थान, (६) देश-परिस्थिति के अनुसार वेश धारण, (७) आयोचित व्यय, (८) देशाचार परिपालन, जिससे स्थानीय लोग विरुद्ध न हो सकें (९) निन्दित कार्य में अप्रवृत्ति, (१०) राजा आदि की निन्दा न करना, (११) माता-पिता का सत्कार (१२) अशांति के कारणों का त्याग (१३) आश्रितों का भरण-पोषण, (१४) पोष्य

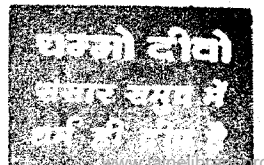
वर्ग की रक्षा, (१५) गौरव रक्षा, (१६) दीन जनों की सेवा, (१७) स्वास्थ्य रक्षा, (१८) लोक-व्यवहार का पालन, (१९) प्रतिदिन धर्म श्रवण, (२०) कदाग्रह का त्याग आदि। इन गुणों से युक्त व्यक्ति ही जैन श्रावक होने का अधिकारी है। पं. आशाधर ने लगभग इन सभी गुणों को सागारधर्म के अर्न्तगत गिना दिया है।

हरिभद्र के मत से इन सामान्य गुणों से समन्वित होकर गृहस्थधर्म के यथार्थ स्वरूप को समझने लगता है। इसे उसके आध्यात्मिक विकास का द्वितीय चरण कहा जा सकता है। इस चरण में आचार्य ने गृहस्थदेशना विधि बतायी है। इस विधि में सर्वप्रथम उन्होंने धर्म की व्याख्या की है। यह व्याख्या करते समय धर्म के अधिकारी, चिह्न, गुण आदि पर भी विस्तार से विचार किया है। यह सब कदाचित् इसलिए भी किया है कि व्यक्ति जब तक धर्म के वास्तविक स्वरूप से परिचित न हो, उसकी ओर अपने प्रभावी कदम नहीं बढ़ा सकता। ललितविस्तरा में तो सर्वप्रथम उन्होंने धर्म के अधिकारी का ही निर्णय किया है। उनकी दृष्टि में धर्म का पालन वही कर सकता है जो जिज्ञासु हो, विधितत्पर हो, शुद्ध आजीविका वाला हो और निर्भय हो। इसके साथ ही धर्मकथा प्रीति, धर्म-निन्दा-अरुचि, धर्म-निन्दक पर दया, धर्म में चित्त स्थापन, गुरु-विनय, शक्तितः त्याग इत्यादि गुण होना भी आवश्यक है।

इन गुणों से व्यक्ति का हृदय आध्यात्मिकता में पक जाता है और वह धर्म के मर्म को समझने लगता है। सम्यग् अध्ययनपूर्वक उसकी कर्त्तव्य बुद्धि जाग्रत हो जाती है। साधना की विशुद्धि के लिए यह आवश्यक है कि साधक निरपेक्ष होकर कर्मों का उपशमन करे। धर्म को वृक्ष का रूपक देते हुए आचार्य ने स्पष्ट किया कि साध्य धर्म की चिन्ता व प्रशंसा करना, धर्म के लिए बीजवपन है, उसकी अभिलाषा करना अंकुरादि अवस्था है, सम्यग् उपदेश का श्रवण करना शाखाओं का फूटना है, सम्यग् विशुद्ध आचरण करना उसका पत्र-प्रस्फुटन है, सम्यग् आचरण से पुण्य द्वारा देव, मनुष्य आदि जन्मों में सुख प्राप्ति पुष्प अवस्था है। और अंत में मोक्ष की उपलब्धि धर्म की फल अवस्था है।

‘धम्मनायगण’ की व्याख्या में आचार्य ने धर्मनायकों के गुणों की ओर संकेत करते हुए धर्म-प्राप्ति का मार्ग तथा उसके फल को स्पष्ट किया है। उन्होंने कहा है कि तीर्थंकर के धर्म नायक होने में चार कारण हैं—धर्म पालन करने का प्रणिधान, उसका निरतिचार पालन, यथोचित धर्मोपदेश और धर्मोपदेश स्वयं देना। धर्म के फलस्वरूप ही तीर्थंकर प्रातिहार्य, समवसरणादि से विभूषित होते हैं। तथ्य यह है कि धर्म एक आंतरिक जागृति का शुभ परिणाम है। जिज्ञासा, अभिलाषा और सत्प्रयत्नों से व्यक्ति धर्म की ओर बढ़ता है और समभावी बन जाता है।

आचार्य हरिभद्र ने देशना क्रम में यह भी निर्देश दिया है कि प्रवृत्तिमार्गी को क्रिया मार्ग से, प्रेमी को भक्ति मार्ग से, और ज्ञानी को ज्ञान मार्ग से उपदेश दिया जाना चाहिए। इस क्रम से वह उपदेशक श्रावक को स्वाध्याय की ओर प्रेरित कर सकता है। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चरित्राचार, तपाचार और वीर्याचार का पालन करते हुए साधक अध्यात्म की ओर आगे बढ़ जाता है। इस प्रकार पुरुषार्थपूर्वक वह गंभीर देशना प्राप्त करने का अधिकारी



हो जाता है। वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा, और धर्मकथन से श्रुतधर्म का अभ्यास करता है। कष, छेद और ताप से उसका परीक्षण करता है और स्वानुभूति प्राप्त करता है। बारह भावनाओं का चिंतन करने से उसकी स्वानुभूति में और भी गहराई आ जाती है। धर्मचिंतन के माध्यम से गृहस्थ धर्म की ओर अच्छी तरह आकर्षित हो जाता है।

गृहस्थ धर्म के आध्यात्मिक विकास के तृतीय चरण में आचार्य हरिभद्र ने विशेष देशना-विधि प्रस्तुत की है। उनका मत है कि इस स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते गृहस्थ संवेग प्राप्त कर लेता है और सम्यग्दृष्टि बन जाता है। सम्यग्दृष्टि होने पर ही वह अणुव्रत ग्रहण करने का अधिकारी है अन्यथा नहीं।<sup>१</sup> सम्यग्दृष्टि ही प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य जैसे गुणों से जीवन को उज्ज्वल कर लेता है।

इसके बाद आचार्य ने बारह अणुव्रतों का वर्णन किया है। पंचाणुव्रतों में तो कोई भेद नहीं है पर गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों में कुछ अंतर मिलता है। हरिभद्र ने दिक्परिमाण भोगोपभोगपरिमाण और अनर्थदंड विरमण ये तीन गुणव्रत माने हैं। कुंद-कुंद की परम्परा में भी इन तीनों को गुणव्रत कहा है। उमास्वाति ने अवश्य भोगोपभोग के स्थान पर देशव्रत को स्वीकार किया है। भगवती आराधना, वसुनन्दिश्रावकाचार महापुराण आदि में उमास्वाति का ही अणुकरण किया गया है।

इसी अध्याय में आचार्य ने सामायिक, देशावकासिक, प्रोषध, और अतिथिसंविभाग इन चार शिक्षाव्रतों को स्वीकार किया है। इसके पूर्व कुंद-कुंद ने देशावकासिक न मानकर संलेखना को स्थान दिया है। भगवती आराधना में संलेखना के स्थान पर भोगोपभोग-परिमाण व्रत रखा गया और सर्वार्थसिद्धि में उसे स्वतंत्र व्रत का रूप दिया गया। उमास्वाति ने देशावकासिक की जगह उपभोग-परिभोग परिमाण और समन्तभद्र ने प्रोषधोपवास की जगह वैयावृत्य का समर्थन किया। इन परम्पराओं में दैशिक और कालिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि रही होनी चाहिए।

सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने पर उसकी रक्षा का उपाय भी सुझाया गया। साधर्मियों की संगति, वत्सलता, नमस्कारमंत्रपाठ, चैत्यवंदन, प्रत्याख्यान, चैत्यगमन, पूजा-पाठ, साधुवंदन, उपदेश ग्रहण, चिन्तन, दान, दया, धर्म व्यवहार आदि ऐसे उपाय हैं जिनके आधार से सम्यक्त्व में प्रबलता और दृढता आती है। ललितविस्तरा में भी इनका वर्णन आता है। विशेष रूप से वहाँ चैत्यवंदन को अधिक महत्त्व दिया गया है।

इस प्रकार आचार्य हरिभद्र ने धर्मविन्दु और ललित-विस्तरा इन दोनों ग्रन्थों में गृहस्थाचार का काल की दृष्टि से वर्णन किया है। कहीं-कहीं लीक से हटकर उन्होंने अपना मत व्यक्त किया है। समय और परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने गृहस्थाचार की देशना विधि का जो क्रम दिया है वह निश्चित ही प्रभावक और उद्धारक है। साधक के आध्यात्मिक विकास की इतनी सरल और सुलभी हुई रूपरेखा अन्यत्र दिखाई नहीं देती।

—न्यू एक्स्टेंशन एरिया सवर, नागपुर

१. सति सम्यग्दर्शने न्याय्यमणुव्रतादीनाम् ग्रहणं नान्यथेति — धर्मविन्दु ३, ५. □□

